स्वराज्य और चरित्र निर्माण

देशवासियों को चेतावनी

इन्द्र विद्याव

व्यास।

...मेरी बात नहीं सुनता। जब धन और ऐश्वर्य धर्म से ही प्राप्त होते हैं—तो धर्मानुकूल जीवन क्यों नहीं व्यतीत करते।

निवेदन

स्वतंत्र राष्ट्र की रक्षा के लिये चरित्र निर्माण से बढ़ कर आवश्यक कोई कार्य नहीं है, यह विचार कर मैंने इस विषय पर कुछ लेख लिखे थे। वह लेख दिल्ली के हिन्दुस्तान तथा सहारनपुर के ज्ञानोदय में समय समय पर प्रकाशित हुए। अपने विचार को देश के नेताओं तथा जनता के सम्मुख व्यापक रूप से रखने के लिये मैंने उन्हें पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिया है। इस पुस्तिका में पंचवर्षीय योजना में शिक्षाकी उपेक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसका उद्देश्य दोष दिखाना नहीं है, अपितु योजना के संचालकों का ध्यान शिक्षासुधार की आवश्यक समस्या की ओर आकृष्ट करना है।

इन्द्र विद्यावाचस्पति

स्वराज्य
और
चरित्र निर्माण

लेखक
इन्द्र विद्यावाचस्पति, साहित्यवाचस्पति,
सदस्य भारतीय राज्य परिषद्, कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय।

प्रकाशक :
वाचस्पति पुस्तक भण्डार
चन्द्रलोक, जवाहर नगर,
दिल्ली

मूल्य १)

प्रकाशक :
वाचस्पति पुस्तक भण्डार
चन्द्रलोक, जवाहर नगर,
दिल्ली

मूल्य :
सवा रुपया

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली

विषय सूची

		पृष्ठ संख्या
१	राजनीतिक इतिहास का आध्यात्मिक विवेचन ...	१
२	हमारी समस्या-सामाजिक या आध्यात्मिक ...	६
३	राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की आवश्यकता ...	१४
४	राष्ट्र चरित्र-निर्माण के लिए उपयुक्त शिक्षा आवश्यक ...	२२
५	पंचवर्षीय योजना में शिक्षा की उपेक्षा ...	३१
६	परिशिष्ट-चरित्र-शिक्षण और शिक्षा पर डा. राजेन्द्र प्रसाद ...	३६

स्वराज्य और चारित्र निर्माण

: १ :

राजनीतिक इतिहास का आध्यात्मिक विवेचन

संसार के राज्यों के उत्थान और पतन के इतिहास को विवेचना की दृष्टि से पढ़ें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि इन दोनों घटनाओं के कारणों में राज्य के निर्माताओं के चरित्र का बहुत ऊँचा स्थान है। राज्यों के निर्माताओं को हम तीन कोटियों में बांट सकते हैं। पहले वह लोग जो महत्वाकांक्षी, असाधारण रूप से वीर और संगठन कला में निपुण होते हैं, परन्तु चरित्रवान् नहीं होते। चरित्र से हमारा अभिप्रायः बहुत विस्तृत है। चरित्रवान् व्यक्ति कामवासना का, विलासिता का और लोभ का शिकार नहीं होता। वह अपने स्वार्थ में अन्धा हो कर प्रजा के हितों को पददलित नहीं करता। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति इन अर्थों में चरित्रवान् न होता हुआ भी वीरता आदि अन्य गुणों में इतना बढ़ा हुआ हो कि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके राज्य या साम्राज्य तक की स्थापना करले। सिकन्दर, चंगेज़ खां आदि व्यक्ति इस कोटि में आते हैं। संसार ने उनके लोहे को माना। वह जिधर झुक गए, विजय श्री ने उसी ओर से आकर उनके गले में माला पहना दी। परन्तु उनमें उस चरित्र की कमी थी, जो स्थिर राज्य बनाने के लिए आवश्यक है। उनका अपना अन्त जैसा हुआ, उनके बनाए हुए साम्राज्यों का अन्त भी वैसा ही हुआ। अक्षौहिणी सेनाओं को परास्त करने वाले वीर हत्यारों के छुरों के शिकार हुए, और उनके बनाए हुए राज्य उनके साथ ही नष्ट भ्रष्ट हो गए।

दूसरी कोटि के राज्य-निर्माता वह होते हैं, जो स्वयं असाधारण वीर न होते हुए भी परिस्थितिवश साम्राज्य बनाने में सफल हो जाते हैं। हमारे देश में गुप्त साम्राज्य की स्थापना ऐसे ही राजा द्वारा हुई। चन्द्रगुप्त स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य की तरह न कोई बड़ा विजेता था, और न अपने पोते चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की भांति शास्त्र और शस्त्र की सब कलाओं में प्रवीण था। फिर भी वह गुप्त साम्राज्य बनाने में सफल हो गया, क्योंकि परिस्थितियों ने उसकी सहायता की। लच्छवी वंश से उसके विवाह सम्बन्ध से उसका छोटा सा राज्य साम्राज्य के रूप में परिणित हो गया, जिसे समुद्रगुप्त ने विजयों द्वारा और विक्रमादित्य ने परिष्कार द्वारा चार चांद लगा दिये। ऐसे राज्य निर्माताओं में चाहे असाधारण वीरता न हो परन्तु यह आवश्यक है कि वे चरित्रहीन न हों। चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध में हमें इतिहास जो थोड़ी बहुत जानकारी देता है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि वह एक शिष्ट और सज्जन राजा था जो यथाशक्ति अपनी प्रजा के पालन और अपने राज्य के संरक्षण में लगा रहा। यदि वह चरित्रवान् न होता तो उसके सुलभता से प्राप्त छोटे से साम्राज्य की वही गति हो जाती जो अयोग्य व्यक्ति को अकस्मात् विरसे में प्राप्त जायदाद की हो जाती है। चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी यदि गुप्त साम्राज्य का नाम उज्जवल कर सके, तो उसका मुख्य कारण यह था कि उन के वंश का संस्थापक चरित्रवान् व्यक्ति था।

तीसरी कोटि में हम राज्य के उन निर्माताओं का परिगणन करते हैं, जो अपनी शक्ति से साम्राज्य की स्थापना करते हैं, और अपनी योग्यता से ही उसे समृद्धशाली बना कर उत्तराधिकारियों के हाथ में सौंप जाते हैं। उन के बनाये हुए राज्य पहले दोनों प्रकार के राज्यों से अधिक स्थायी होते हैं, परन्तु उनकी भावी प्रगति और उनकी आयु की लंबाई बहुत कुछ उनके उत्तराधिकारियों की योग्यता पर अवलंबित होती है। ऐसे राज्य तब तक चलते हैं जब तक उस पर शासन करने वाले व्यक्तियों में चरित्रसंबंधी वह योग्यताएं बनी रहें, जिनके बिना राज्य का चलना

असम्भव है। पुराने समय के कई साम्राज्य देर तक चले तो कई शीघ्र नष्ट हो गये। अनेक राजवंश आठ दस पीढ़ियों तक शासन करते रहे, परन्तु कुछ राजवंश ऐसे भी हो गए हैं जो केवल दो तीन पीढ़ियों में ही नष्ट हो गए। यदि इन ऐतिहासिक विषमताओं के कारण की विवेचना की जाय तो हमें प्रतीत होगा कि उनमें शासक वर्ग की चरित्र सम्बन्धी योग्यता का ही सब से बड़ा महत्व है।

भारत के प्राचीन साम्राज्यों में से सब से प्रसिद्ध दृष्टान्त रघु के साम्राज्य का है। रघुवंश के पतन और उत्थान का इतिहास, इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही शिक्षादायक और मनोरंजक है। रघुवंश के संस्थापक दो थे, राजा दिलीप और उसका पुत्र रघु। दिलीप ने सुरक्षित और समृद्ध दशा में रघु को जो राज्य सौंपा, उसे रघु ने अपने बल और योग्यता से विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत कर दिया। यदि रघु की विजययात्राओं के मान चित्र पर दृष्टि डालें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि रघु का साम्राज्य जितना विस्तृत था, उतना विस्तृत न मुगल साम्राज्य हो सका और न भारत का कोई और साम्राज्य। दिलीप और रघु बलवान् भी थे और चरित्रवान् भी।

रघु के सम्बन्ध में पुराणों में तथा अन्य इतिहास ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि वह क्षत्रिय के योग्य गुणों में अपने पिता से भी दो कदम आगे था।

जिस चक्रवर्ती राज्य की इन दो वीर पुरुषों ने स्थापना की, राजा अज और दशरथ ने उसकी भली प्रकार रक्षा की और महाराज राम चन्द्र ने उसके प्रभाव को समुद्र के पार लंका तक फैला दिया। इस प्रकार अपनी चरम सीमा तक पहुँचे हुए रघु के राज्य का क्षय तब आरम्भ हुआ, जब रघु और राम के उत्तराधिकारियों में प्रमाद विषयासक्ति और लम्पटता ने घर कर लिया।

राम के पश्चात् राघवों के राज्य में जो पहला परिवर्तन हुआ, वह यह था कि उसके एक के स्थान पर अनेक केन्द्र बन गए। कुश कुशावती में प्रतिष्ठापित हुए और लव की राजधानी शरावती में बनी। भरत ने अपने पुत्र पुष्कल को पुष्कलावती में और तक्ष को तक्षशिला में अभिषिक्त कर दिया। लक्ष्मण ने अपने अंगद और चन्द्र केतु नाम के दो पुत्रों को कारापद प्रदेश का शासक बना दिया। इस प्रकार महाराज राम के देहत्याग के साथ ही रघु का विशाल साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। वह अयोध्यापुरी जिसके वर्णन में वाल्मीकि ऋषि ने अपना सम्पूर्ण वाक् चातुर्य समाप्त कर दिया था, राम के देहवसान के कुछ ही दिनों पश्चात् खंडहर के रूप में परिणत हो गई।

यह तो हुई क्षय के प्रारम्भ की कथा। अब समाप्ति की घटनाओं पर दृष्टि डालिये। राम के पश्चात् तीसरी पीढ़ी से लेकर रघु वंश की समाप्ति तक २४ राजा हुए। मन को उद्विग्न करनेवाली उनकी कहानी सुनाने के लिये न यहाँ स्थान है और न आवश्यकता है। कुछ थोड़े से दृष्टान्त पर्याप्त हैं। राजा पारियात अत्यन्त भोगी होने के कारण असमय में ही मर गया। ध्रुवसन्धि को शिकार का बहुत शौक था, वह शेर के हाथों मारा गया। अन्तिम राजा अग्निवर्ण सुन्दर भी था और वीर भी, परन्तु उसमें चरित्र बल नहीं था। वह कामुकता में ऐसा फंसा कि कि राज्य का सब बोझ मन्त्रियों पर डाल कर स्वयं पूर्ण रूप से विषय भोग में पड़ गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे क्षय रोग ने ग्रस लिया। वह सन्तानहीन ही मर गया और उसके साथ ही रघु का राजवंश भी समाप्त हो गया।

दूसरा दृष्टान्त हम रोमन साम्राज्य के इतिहास में पाते हैं। यह सर्वसम्मत बात है कि रोमन साम्राज्य का यूरोप के प्राचीन इतिहास में अनूठा स्थान है। एक शहर के प्रजातन्त्र राज्य से प्रारम्भ होकर वह कुछ शताब्दियों में भूमि के बहुत बड़े भाग पर छा गया और एक समय ऐसा आया जब यह प्रतीत होता था कि सीज़र के शस्त्र के सामने संसार की

कोई शक्ति खड़ी न रह सकेगी। साम्राज्य शक्ति की यह विशेषता है कि प्रारम्भ से ही उसमें क्षयरोग के कीटाणु बीजरूप में विद्यमान रहते हैं। शक्ति से ऐश्वर्य प्राप्त होता है, ऐश्वर्य प्राप्त होने से उपभोग की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है जो प्रायः सीमा का उल्लंघन कर जाती है, बढ़ी हुई उपभोगकामना का परिणाम यह होता है कि पहले शासक वर्ग में और फिर देखादेखी प्रजाजनों में प्रमाद, परस्पर फूट और अनाचार के कीटाणु रोग के रूप में परिणत होकर सारे समाज शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। यही प्रक्रिया रोम में भी हुई। जिन वीर पुरुषों ने रोम का निर्माण किया था, वे मानसिक और शारीरिक दृष्टि से बहुत उन्नत थे, और रोम की स्वाधीनता को अपना धर्म मानते थे। धीरे-धीरे रोम का शरीर बढ़ता गया, परन्तु अन्दर की शक्ति क्षीण होती गई। जब रोम के धराव्यापी शरीर पर चंगेज़ खां और एटिला जैसे महान् योद्धाओं के आक्रमण होने लगे, तब संसार को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चिरकाल की समृद्धि और सुलभ विषयभोग ने न केवल उनमें फूट पैदा कर दी है उनकी युद्ध शक्ति को भी बहुत निर्बल कर दिया है। रोमन साम्राज्य के क्षय के प्रसिद्ध इतिहास लेखक गिबन ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में रोम के पतन के कारणों का जो विवेचन किया है, उसमें दो कारणों पर विशेष रूप से बल दिया है। एक कारण तो यह था कि पदों और अधिकारों के लिए आपस में लड़-लड़कर रोम के नेताओं ने साम्राज्य की जड़ें हिला दी थीं। और दूसरा कारण यह था कि बढ़ी हुई तृष्णा को तृप्त करने के लिए उन्होंने अपने पुराने राष्ट्रीय स्मारकों और सुरक्षा के साधनों तक को उजाड़ डाला था। रोम के पतन के दिनों में देखनेवालों को यह देखकर दुःख और आश्चर्य होता था कि जिस कवच को पहनकर रोम का योद्धा युद्धक्षेत्र में विजयी होता था, उसके तीसरी या चौथी पीढ़ी के वंशज के शरीर पर वह कवच इतनी ढीली आने लगी थी कि उसे पहनकर लड़ाई में जाना भी असम्भव हो गया था। उस अन्तिम युग में रोम के राज्य में अनाचार, भ्रष्टाचार और विषय लोलुपता सीमा से

अधिक बढ़ गई थी। इतिहास लेखकों ने रोमन साम्राज्य के पतन को एक विशाल पर्वत के पतन से उपमा दी है। इतिहास बतलाता है कि पर्वत के उस पतन का मुख्य कारण यही था कि उसे बनाने वाली शिलाओं को अनाचार की दीमक ने चाट कर बिल्कुल खोखला कर दिया था।

भारत के इतिहास से एक और दृष्टान्त लेना हो तो मुग़लों के इतिहास पर दृष्टि डालिये। मुग़ल साम्राज्य के बनानेवाले महापुरुष ने मध्य एशिया से भारत तक की विजय यात्रा करके सलतनत की स्थापना की। परन्तु उसके उत्तराधिकारी दिल्ली के लाल किले में सब प्रकार से साधन सम्पन्न होकर भी अपनी रक्षा न कर सके। इसका एकमात्र कारण मुग़ल बादशाहों का चरित्र-सम्बन्धी पतन था। बाबर का लड़का हुमायूँ एक राजपूतनी की राखी पाकर अपना फ़र्ज़ समझता है कि मुसलमान आततायी से लड़ने के लिये सन्नद्ध हो जाय और उसका वंशज जहांदार शाह शासन का नया ही उपाय निकलता है। वह शासन करना ही छोड़ देता है और सलतनत का सारा बोझ वज़ीरों पर डाल देता है। राजकाज से निश्चिन्त हो कर वह मदिरा और मोहिनी की सेवा में इतना संलग्न होता है कि उसे न अपनी सुध रहती है और न प्रजा की। वह लाल कुँवर नाम की एक नर्तकी के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। एक दिन जहांदर शाह और लाल कुँवर महल की छत पर से यमुना की ओर देख रहे थे। सवारियों से भरी हुई एक नौका पार जा रही थी। लाल कुँवर बोली कि मैंने सवारियों से भरी हुई किश्ती को कभी डूबते नहीं देखा। बस इतना इशारा काफी था। उसी समय बादशाह की आज्ञा से मल्लाहों ने सवारियों से भरी हुई एक किश्ती बीच धार में ले जाकर डुबो दी। बीसियों व्यक्ति डूब कर मर गए। इस पर लालकुंवर मुस्करा दी जिससे जहांदार शाह का जीना सफल हो गया। कुछ समय पश्चात् यदि ऐसे राज्य की किश्ती यमुना की मझधार में डूब गई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

भारत की राष्ट्रीय जागृति के ऐतिहासिक चढ़ाव उतार पर समालोचनात्मक दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि केवल वही राष्ट्रीय उत्थान सफल हुए जो मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्थान के साथ बंधे हुए थे। शिवाजी के नेतृत्व में महाराष्ट्र में जो विशाल राज्य क्रान्ति हुई, वह जन्म काल से ही भक्तों और सन्तों द्वारा फैलाई सुधारणाओं से सम्बद्ध थी। पहले सुधार का वसंत छाया, पीछे क्रान्ति के फूल खिले। मराठा शाही कायम रही जब तक महाराष्ट्र के नेता सन्त तुकाराम और समर्थ गुरु रामदास के बतलाये हुए मार्ग पर चलते रहे। ज्यों ही उन्होंने उस मार्ग को छोड़कर पतन काल के मुग़ल शासकों का अनुसरण किया त्यों ही उनका भी पतन आरम्भ हो गया। मानो विनाश की घंटी बज गई।

सब से ताज़ा दृष्टान्त हमारी बीसवीं सदी की सफल राज्य क्रांति का है। राजनैतिक अधिकारों के लिये हमारे देश में नये आन्दोलन का प्रारम्भ न्यूनाधिक रूप में ५७ की सशस्त्र क्रान्ति की समाप्ति के साथ ही हो गया था। १८८५ ई० में इंडियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशन होते रहे और उनमें देश के सुशिक्षित धनी-मानी लोग अधिक संख्या में उपस्थित होते रहे। परन्तु वह असंदिग्ध बात है कि वह आन्दोलन समुद्र की झाग की तरह बहुत ही उथला रहा और क्रांति के रूप में परिणत न हुआ जब तक महात्मा गांधी ने उसे अपने हाथ में लेकर एक ऊँचा आध्यात्मिक रूप नहीं दिया, और यह आवश्यक नहीं बना दिया कि केवल चरित्रवान् व्यक्ति ही राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता तथा सिपाही बन सकते हैं। गांधी के जादू ने सैंकड़ों विलासिता में डूबे हुए लक्ष्मी पतियों को खद्दरधारी फकीर बना दिया। हज़ारों सरकारी पिठ्ठुओं को सादगी का पाठ पढ़ाकर स्वतन्त्र कर दिया और लाखों देशवासियों को अहिंसा और सत्य के पुजारी बनाकर इस योग्य कर दिया कि वे घर का मोह छोड़कर जेलों की यातनाओं को सह सकें। इसमें किसीको इन्कार नहीं हो सकता कि सन् १९४७ में दूसरी राज्य क्रांति को जो सफलता

मिली, वह कोरे पशुबल पर आध्यात्मिक बल की विजय के कारण ही मिली।

राजनैतिक और आर्थिक सफलता मनुष्य को प्रायः अन्धा बना देती है। वह सेना और थैली के बल पर इतना विश्वास करने लगता है कि इन दोनों से अधिक बलवती और इनकी प्रारम्भिक सफलताओं का कारण चरित्र शक्ति को भूल जाता है। व्यक्तियों और राष्ट्रों के उठकर गिरने का यही मुख्य कारण हो जाता है।

AUGUST 1992

AUGUST

S	M	T	W	T	F	S
30	31	…	…	…	…	1
2	3	4	5	6	7	8
9	10	11	12	13	14	15
16	17	18	19	20	21	22
23	24	25	26	27	28	29

भादों कृ० ३०

28

FRIDAY

SEPTEMBER

S	M	T	W	T	F	S
…	…	1	2	3	4	5
6	7	8	9	10	11	12
13	14	15	16	17	18	19
20	21	22	23	24	25	26
27	28	29	30	…	…	…

सं० २०४८

$\frac{२.५}{४}$, $\frac{१.५}{११}$

$\frac{२.१}{११}$, $\frac{२.१}{१८}$, $\frac{२.१}{१६}$

$\frac{६}{४}$ $\frac{८.३}{१, २I, २II, २III}$

$\frac{८.५}{५}$, $\frac{८.१}{१}$ $\frac{८.२}{३६}$, $\frac{८.३}{१, २I, २II, ३}$

क

रायें

तेकर

और

थूल

इयों

ठन

ृत

ते

ों

ड़ा

… सकता है, देखना केवल यह है कि प्रथमता किसे दी जाये ।

संगठन समाज का शरीर है, और चरित्र, उसकी आत्मा है । यह

मिली, वह कोरे पशुबल पर आध्यात्मिक बल की विजय के कारण ही मिली।

राजनैतिक और आर्थिक सफलता मनुष्य को प्रायः अन्धा बना देती है। वह सेना और थैली के बल पर इतना विश्वास करने लगता है कि इन दोनों से अधिक बलवती और इनकी प्रारम्भिक सफलताओं का कारण चरित्र शक्ति को भूल जाता है। व्यक्तियों और राष्ट्रों के उठकर गिरने का यही मुख्य कारण हो जाता है।

: २ :

हमारी समस्या—सामाजिक या आध्यात्मिक

१

पाठक इस लेख के शीर्षक में आध्यात्मिक शब्द को देखकर घबरायें नहीं। वे यह न समझें कि मैं यहाँ किसी गहरी दार्शनिक समस्या को लेकर आया हूँ। यहाँ समाज से मेरा अभिप्राय समाज के बाह्य संगठन से और आध्यात्मिक से मेरा अभिप्राय मनुष्यों की मनोवृत्तियों से है। प्रश्न का स्थूल रूप यह है कि इस समय स्वराज्य प्राप्त करके हम अपने को जिन कठिनाइयों में फँसा हुआ पाते हैं उनका मुख्य कारण हमारे समाज का विशेष संगठन है अथवा हमारी बिगड़ी हुई मानसिक वृत्तियाँ हैं।

कुछ लोग समाज के संगठन-विशेष को ही दुःखों और मूलभूत बुराइयों का कारण समझ कर उनके अधूरे या पूरे परिवर्तन पर ज़ोर देते हैं। परन्तु कुछ विचारक विकृत मनोवृत्तियों को ही सामाजिक बुराइयों का कारण समझकर उसे सुधारने या बदलने को प्रथम स्थान देते हैं। हमें संसार के पुराने तथा वर्तमान अनुभव की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए कि तथ्य क्या है। क्या सर्व साधारण की सुख समृद्धि शासक और शास्य की सुधरी हुई मनोवृत्ति पर आश्रित है अथवा केवल समाज का ढांचा बदलने से लोक का कल्याण हो सकता है। यूं तो बाह्य संगठन और आन्तरिक मनोवृत्ति दोनों ही का समाज की परिस्थिति पर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ सकता है, देखना केवल यह है कि प्रथमता किसे दी जाये।

संगठन समाज का शरीर है, और चरित्र, उसकी आत्मा है। यह

ठीक है कि शरीर स्वस्थ और दृढ़ होना चाहिए, परन्तु यदि शरीर में स्वच्छ आत्मा न हो तो शरीर अपने तथा दूसरों के अहित का कारण बन सकता है।

संसार का अनुभव बतलाता है कि यदि किसी देश के निवासियों में चरित्रबल न हो अर्थात् लोक हित की भावना निर्बल और स्वार्थ की भावना प्रबल हो तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि देश के निवासी दुःखी और असन्तुष्ट रहते हैं। सुन्दर सामाजिक भावना के बिना अच्छे-से-अच्छा विधान व्यर्थ और असफल हो जाता है।

सद्भावना हो तो एक सत्तात्मक राज्य में भी प्रजा सुखी रह सकती है, और सद्भावना न हो तो प्रजातन्त्र शासन भी राष्ट्र का अभिशाप बन सकता है। इंग्लैंड पूर्ण रूप से प्रजातन्त्र नहीं तो भी वहाँ शान्ति और समृद्धि है, और हिटलर का जर्मनी न केवल प्रजातन्त्र था गणतन्त्र भी था तो भी उसे विनाश का मुँह देखना पड़ा। इसका मुख्य कारण यह नहीं कि इंग्लैंड का खिचड़ी राज्य विधान गणतन्त्र विधान से बेहतर है प्रत्युत यह था कि जर्मनी में जिन लोगों के हाथों में राज्यशक्ति का संचय हुआ उनकी मानसिक भावना में दोष था। वह प्राप्त हुई शक्ति का उपयोग अपने और दूसरों के कल्याण में न करके दूसरों की शक्ति के दलन और अपनी शक्ति के बढ़ाने में लगाने लगे। संविधान का इतना दोष नहीं था जितना उन लोगों की मनोवृत्ति का जिनके हाथ में जर्मनी का शासन आ गया था। नाज़ी जर्मनी और फासिस्ट इटली में व्यक्ति को कुचल कर समाज की और अन्य देशों को दबाकर अपने को बढ़ाने की जो प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई उसके लिए केवल जनतन्त्र शासन को दोष देना व्यर्थ होगा, क्योंकि स्विटज़रलैंड और अमेरिका जैसे गणतन्त्र देशों में जनता के मत की प्रधानता होते हुए भी नाज़ीवाद या फासिज्य जैसी आक्रामक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न नहीं हुईं। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि राजतन्त्र शासन अपने आप में प्रजा के सुख या दुःख का कारण नहीं होता। यदि ऐसे राजा हुए है जिन्होंने प्रजा पर घोर अत्याचार करके

राजसत्तात्मक शासन प्रणाली को बदनाम किया है, तो ऐसे शासकों की भी कमी नहीं है जिनके समय प्रजा अत्यन्त सुखी और सन्तुष्ट रहीं। प्रत्येक देश में ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने रामराज्य की प्रथाओं को जाग्रत करके इतिहास को उज्ज्वल किया है। प्रजा के लिए संतोषजनक व्यवस्था का होना जितना शासक की मनोवृत्ति पर अवलम्बित है उतना शासन प्रणाली पर नहीं है।

शासन प्रणाली का महत्त्व तब प्रतीत होता है जब कोई शासक विनाश के रास्ते पर चलने लगता है। उस समय जहाँ प्रजातन्त्र शासन प्रचलित है वहाँ वैधानिक उपायों से बुराई को रोका जा सकता है, परन्तु जहाँ एकसत्तात्मक राज्य है वहाँ प्रायः राज्य-विप्लव ही एकमात्र सुधार का उपाय रह जाता है। इस प्रसंग में यह कह देना अप्रासंगिक नहीं कि कभी-कभी प्रजातन्त्र प्रणाली और गणतन्त्र प्रणाली भी इतनी विकृत हो जाती है कि वह प्रजा के दमन में राजतन्त्रों को मातकर देती हैं। उन अपवादों को देखकर मानना पड़ता है कि प्रजा के हित की दृष्टि से प्रणाली उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी उन लोगों की मनोवृत्ति और भावना जिनके हाथ में शासन की बागडोर आ गई है। गहरे विचार से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः शासकवर्ग से नैतिक स्तर के अनुपात से ही प्रजा का सुख बढ़ता घटता है।

२

भारत के विचारकों के सामने जो इस समय बहुत बड़ी विकट समस्या है वह यह है कि विदेशी राज्य चला गया और उसके स्थान पर न केवल स्वदेशी अपितु गणतन्त्र शासन स्थापित हो गया। वर्तमान राजनीति शास्त्र का यह लगभग सर्वमान्य सिद्धान्त है कि गणतन्त्रमयी शासन प्रणाली सब शासन प्रणालियों से उत्कृष्ट है। भारत में उसकी स्थापना हो गई। भारतवासियों को आशा थी कि विदेशी और नौकरशाही के जाने पर देश में रामराज्य का समय आ जायगा जिसमें न कोई

भूखा रहेगा और न कोई नंगा। सब लोग प्रसन्न और सुखी रहेंगे। परन्तु आज वस्तु स्थिति क्या है ?

आज भारत की सामान्य प्रजा में गहरा और काफी असंतोष है। आप इस सचाई को हलका करने के लिए कई बातें कह सकते हैं। आप कह सकते हैं कि भारत में जो असंतोष है वह विश्वव्यापी असंतोष का ही एक भाग है। आप यह भी कह सकते हैं कि असंतोष की मनोवृत्ति बहुत बुरी है और इसे त्याग देना चाहिए परन्तु हम जानते हैं कि ये सब हेतु या हेत्वाभास इस सचाई को नहीं झुठला सकते कि देश की प्रजा में इस समय व्यापी और गहरा असंतोष है।

असंतोष को प्रकट करते हुए जो बातें कही जाती हैं या जो शिकायतें की जाती हैं वे मुख्य रूप से तीन हैं!

पहली शिकायत यह है कि आम जनता की आर्थिक स्थिति में कुछ भी सुधार नहीं हुआ। वायदा किया गया था कि स्वराज्य हो जाने पर कोई भारतवासी ऐसा नहीं रहेगा कि जिसे अन्न वस्त्र और मकान प्राप्त न हो। स्वराज्य मिले छः वर्ष होने लगे हैं परन्तु जनता की दशा में कोई विशेष उन्नति न हुई। अन्न कपड़ा और मकान न सस्ते हुए हैं और न सुलभ।

दूसरी शिकायत यह है कि अपना राज्य हो जाने पर भी जनता के जान माल पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित नहीं हैं। कारण कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि गत पाँच वर्षों में देश भर में चोरियों डकैतियो और हत्याओं की संख्या बढ़ी ही है घटी नहीं।

एक बड़ी शिकायत भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी की थी। समाचार पत्रों के प्रचार कार्य और सरकार के प्रकाशन विभाग की सूचनाओं को अलग रख दीजिये क्योंकि उनमें प्रायः सत्य और उपयोगिता का मिश्रण होता है परन्तु यदि हम सामान्य जनता के अनुभव को परिस्थिति का माप दंड समझें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि सरकार के दफ्तरों तक में रिश्वत की मात्रा में कमी नहीं आई। और न रेलवे आदि अन्य विभागों

में जनता को राहत का विशेष अनुभव हुआ है। सब से अधिक अखरने वाली बात यह है कि मन्त्रि मंडलों से लेकर साधारण दफ्तरों में और पुलिस आदि विभागों में ऊँचे ओहदे के अधिकारियों की संख्या जहाँ पाँच छः गुना हो गई है वहाँ कार्यक्षमता घटी हुई दिखाई देती है।

मैंने परिस्थिति का जो चित्र खींचा है वह वास्तविक से कुछ हलका ही है, गहरा नहीं। विदेशी शासक भारत से विदा हो गये। हम ने अपना संविधान ऐसा बना लिया जिसे आज का संसार सर्वोत्कृष्ट मानता है। हम ने गणराज्य स्थापित कर लिया। यह विचारणीय प्रश्न है कि फिर भी शासन यन्त्र के दोष दूर नहीं हुए, और जनता के दुःख दूर नहींहुए, इसका क्या कारण है ?

३

कारण स्पष्ट है। केवल शासन पद्धति के रूप पर प्रजा का सुख आश्रित नहीं है। प्रजा के सुखी होने के लिए यह भी आवश्यक है कि शासन करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति समूह का मुख्य लक्ष्य लोकहित हो, आत्महित नहीं। वह शासन का उद्देश्य प्रजा को भलाई की समझे, अपनी भलाई को नहीं। यह तभी सम्भव है यदि शासकों का दृष्टिकोण ऊँचा और विशुद्ध हो और उनका चरित्र सम्बन्धी सामान्य स्तर ऊँचा हो।

एक बात और स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए। प्रजा के सुखी होने के लिए केवलशासकों के चरित्र स्तर का ऊँचा होना ही पर्याप्त नहीं, जनता के चरित्र का स्तर भी ऊँचा होना चाहिए। अच्छा और सुखदायी शासन अच्छे राष्ट्र में ही हो सकता है और अच्छा राष्ट्र वही कहला सकता है जिसमें शासक और शास्य दोनों चरित्रवान् हों।

: ३ :

राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की आवश्यकता

मैंने इससे पहले लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि स्वराज्य हो जाने पर भी हमारे समाज-शरीर के बहुत से वर्तमान रोगों का मुख्य कारण यह है कि राष्ट्र का चरित्र-सम्बन्धी स्तर बहुत नीचा है। राजनीतिक तथा आर्थिक कारण भी हैं, परन्तु वे गौण हैं, मुख्य कारण नैतिक हैं।

इस लेख में मैं देश के नेताओं तथा अन्य कार्यकर्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूं कि जहाँ अन्य कारणों को दूर करने और उन दिशाओं में सुधार करने के लिए अनेक उपाय सोचे तथा किए जा रहे हैं, वहाँ राष्ट्र के चरित्र-स्तर को ऊंचा उठाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी योजना बनाने पर सरकारी तौर पर विचार तक नहीं किया गया प्रतीत होता।

आप सबसे पूर्व पंचवर्षीय योजना पर दृष्टि डालिए। योजना बनाने के लिए १९५० के मार्च मास में कमीशन बनाया गया था, उसके सामने कुछ उद्देश्य रखे गए थे, जिन्हें सरकारी भाषा में 'टर्म्स आफ रेफरेंस' कहते हैं। उन उद्देश्यों की सबसे पहली धारा में यह कहा गया था कि कमीशन देश की भौतिक, आर्थिक और मानवीय सम्पत्ति के संबंध में छानबीन करके यह देखेगा कि देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें कैसे बढ़ाया जा सकता है। इसका यह अभिप्राय स्पष्ट ही था कि कमीशन राष्ट्र की भौतिक तथा आर्थिक सम्पत्ति के साथ-

ही-साथ उसकी मानवीय सम्पत्ति पर भी पूरा विचार करेगा। परन्तु जब हम विस्तृत योजना पर दृष्टि डालते हैं तब हमें यह देखकर दुःख होता है कि उसमें भारतीय नागरिक को केवल उसकी भौतिक और आर्थिक संपत्ति तक परिमित कर दिया गया है और उसकी आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्तियों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। जहाँ कहीं यह प्रसंग आया भी है कि नागरिकों की कार्य-क्षमता को कैसे बढ़ाया जाए, वहाँ उसके आर्थिक पहलू को ही मुख्य रखा गया है। व्यक्ति की कार्य-क्षमता बढ़ाने में चरित्र का जो भाग है उसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

जिस अध्याय में राष्ट्र की आध्यात्मिक तथा मानसिक सम्पत्ति के संबंध में विस्तृत विचार किया जा सकता था, वह शिक्षा-सम्बन्धी अध्याय है। इसे पढ़कर बहुत निराशा होती है। उसे पढ़ने से प्रतीत होता है कि कमीशन ने शिक्षा तथा शिक्षा द्वारा होनेवाले प्रभावों के संबंध में गम्भीरता पूर्वक विचार ही नहीं किया। विश्वविद्यालय-आयोग की रिपोर्ट तथा ऐसी ही अन्य रिपोर्टों के शीर्षक उठाकर शिक्षा-सम्बन्धी अध्याय की पूर्ति कर दी गई है। राष्ट्र के वर्तमान और भावी मानसिक तथा नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए भारतीय शिक्षा में जिन सुधारों या परिवर्तनों की आवश्यकता है, उनकी न तो रिपोर्ट में कोई विशेष चर्चा है, और न यही प्रतीत होता है कि कमीशन के सदस्यों ने उनपर विचार करना आवश्यक समझा है।

हमें और भी अधिक निराशा होती है, जब हम पंचवर्षीय योजना की प्रगति की पहली रिपोर्ट के सामाजिक सेवाओं के परिच्छेद पर दृष्टि डालते हैं। उसे पढ़कर आपको पहला आश्चर्य तो इस बात पर होगा कि सारी योजना के महासमुद्र के सामने शिक्षा-संबंधी योजना की हैसियत तलैया से अधिक नहीं है। जहाँ एक वर्ष में एक-एक भौतिक योजना पर करोड़ों का व्यय किया गया है, वहाँ ३५–३६ करोड़ भारतवासियों की मानसिक उन्नति की योजना पर प्रान्तों और केन्द्र में मिलाकर जो राशि व्यय की गई है, वह जितनी १९५१–५२ के बजट में रखी गई थी, योजना के

कार्यान्वित होने पर उससे केवल ६ करोड़ रुपए अधिक रखी गई हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि योजना के कारण देश को भली प्रकार शिक्षित करने के लिए बजट में प्रति व्यक्ति दो-ढाई आने से अधिक की अतिरिक्त राशि रखना भी आवश्यक नहीं समझा गया। एक राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्र की मानसिक उन्नति की इससे अधिक उपेक्षा क्या हो सकती है।

योजना की रिपोर्ट में दूसरी आश्चर्य और खेद उत्पन्न करनेवाली बात यह है कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में राष्ट्र के मानसिक और नैतिक स्तर को ऊंचा करने के लिए जिन सुधारणाओं की आवश्यकता है, उनकी विशेष चर्चा नहीं है। सिवाय इसके कि एक विश्वविद्यालय-आयोग बनाकर पहले से विद्यमान कमेटियों में एक संख्या की वृद्धि की गई है, शिक्षा के भविष्य पर विचार करने के लिए कोई कमीशन या कमेटी तक नहीं बनाई गई। नागरिकों के मानसिक और नैतिक जीवन की ओर योजना के निर्माताओं और संचालकों की ऐसी उपेक्षावृत्ति वस्तुतः बहुत खेदजनक है।

२

जब हम इस विषय में स्वतन्त्र भारत के निर्माता महात्मा गांधी की विचार-धारा पर दृष्टिपात करते है, और फिर उससे पंचवर्षीय योजना के निर्माताओं की विचार-धारा की तुलना करते हैं, तब हमें दोनों में दिन और रात का-सा भेद प्रतीत होता है। महात्माजी की राष्ट्रीय योजना का सम्पूर्ण भवन सत्य अहिंसा और सच्चरित्रता के आधार पर खड़ा किया गया था। वह मनुष्य के निज जीवन को न केवल सार्वजनिक जीवन का आधार मानते थे, बल्कि उन्हें सबसे ऊंचा स्थान देते थे। चरित्रहीनता से सनी हुई राजनीतिक या आर्थिक सफलता पर उनका विश्वास नहीं था। यही कारण था कि भारत की जनता के हृदयों पर उनका इतना अटल राज्य था, और वही शक्ति थी जिसने ब्रिटिश राज्य जैसे प्रचण्ड

दुर्ग की दीवारों को गिराने में सफलता प्राप्त कर ली। महात्माजी का सत्य और जीवन की शुद्धता पर अखण्ड विश्वास था। वह विश्वास ऐसा संक्रामक था कि उसने देश भर को प्रभावित कर दिया जिससे बड़े-बड़े आवारा तपस्वी बन गये, प्रसिद्ध गुनहगार सन्तों की श्रेणी में शामिल हो गए और जिनकी नस-नस में विलायती पन भरा हुआ था वे धोती कुरता और चप्पल पहनकर साधारण भारतवासियों में शामिल हो गए। यह सादगी और चरित्र का बल ही था जिसने महात्माजी के आन्दोलन को संसार में अनोखी सफलता प्रदान की।

यह देखकर वस्तुतः दुःख होता है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद हमने महात्माजी के पढ़ाए हुए पाठ को भुला दिया है। हमारा राज्य लौकिक है, इसका अभिप्राय हमने यह मानलिया प्रतीत होता है कि अब सत्य, सादगी और निज जीवन में शुद्धता को लाने के लिए विशेष यत्न अथवा योजना की आवश्यकता नहीं। शायद हम लोगों का ऐसा विचार हो गया है कि अब स्वराज्य तो मिल ही गया है, उनकी रक्षा के लिए महात्माजी का नाम लेना या उनकी समाधि पर फूल चढ़ाना पर्याप्त है। अब उन ऊंचे आध्यात्मिक या नैतिक सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं, जो महात्माजी को स्वराज्य से भी अधिक प्रिय थे और जिनके कारण ही देश को इतनी शीघ्र स्वाधीनता प्राप्त हो सकी।

३

हमारे सार्वजनिक जीवन में नैतिक रेखा के नीचे की ओर गति करने के जो चिन्ह दिखाई दे रहे हैं, उनमें से कुछेक का निर्देश मैं दोषदर्शन की दृष्टि से नहीं कर रहा। मैं देशवासियों का ध्यान उनकी ओर इसलिए आकृष्ट कर रहा हूं कि हम अपने स्वतन्त्र गणराज्य को अराजकता की खाई में गिरने से बचा सकें। हम नैतिक दृष्टि से नीचे की ओर जा रहे हैं, उसके कुछेक दृष्टान्त निम्नलिखित हैं—

सबसे पहले मैं आर्थिक क्षेत्र में से एक उदाहरण चुनता हूं । कहा जाता है कि एक अमरीकी मजदूर चार इटेलियन मजदूरों के बराबर काम करता है, और एक इटेलियन मजदूर चार भारतीयों के बराबर। इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु हमें यह बात दुःख के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि इसमें सत्य का बहुत-सा अंश विद्यमान है। भारतीय मजदूर के श्रम से प्रति घंटा जो परिणाम निकलता है, वह बहुत थोड़ा है। इसके आर्थिक, भौतिक और ऐतिहासिक अनेक कारण बतलाए जा सकते हैं, परन्तु जिन्हें मजदूरों से काम लेना पड़ता है वे स्वीकार करेंगे कि उसका मुख्य कारण मन की वह प्रवृत्ति है, जिसमें प्रमाद की प्रधानता रहती है। यह प्रवृत्ति हमारी मनोवृत्ति का भाग बन गई है। हमारे हर प्रकार के उत्पादन की मात्रा कम होने का मुख्य कारण यही है।

सोचकर देखें तो यह प्रमाद हमारे चरित्र-सम्बन्धी नीचे स्तर का सबसे उज्ज्वल प्रमाण है, जो किसी एक वर्ण या श्रेणी तक परिमित नहीं है। सदियों की दासता ने हमारे अन्दर एक ऐसा प्रमाद उत्पन्न कर दिया है जो उत्तरदायित्वहीन का फल है। यह सिद्ध करने के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं कि यह प्रमाद हमारी उन्नति का सबसे बड़ा शत्रु है। हमारा आर्थिक विकास तब तक सम्भव नहीं जबतक हमारे शारीरिक और मानसिक परिश्रम की उत्पादिका शक्ति में वृद्धि नहीं होती और यह असम्भव है जब तक सारे राष्ट्र का नैतिक स्तर ऊंचा न हो।

४

दूसरा दृष्टांत मैं व्यापारिक दुनिया से लेता हूँ। यह सर्वसम्मत सत्य है कि हमारे गत वर्षों के अन्न तथा वस्त्र-संबंधी संकट का मुख्य कारण अन्न तथा वस्त्र की न्यूनता नहीं थी, अपितु चोर बाजारी थी। जहाँ चोर बाजारी का प्रेरक कारण व्यापारियों का स्वार्थपूर्ण लोभ था, वहां इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि चोर बाजार से माल खरीदनेवाली जनता और उसकी उपेक्षा करनेवाले अधिकारी भी निर्दोष नहीं थे। यदि चोर

बाजार के खरीददार न हों तो दूकानदार किसे बेचें और यदि उनके अपराध की उपेक्षा न की जाय तो वे चिरकाल तक जिन्दा कैसे रहें ? इस प्रकार हम देखते हैं कि गत कई वर्षोंतक राष्ट्र भर को जो अन्न और वस्त्र का कष्ट होता रहा है, उसके लिए राष्ट्र के बहुसंख्यक लोगों की चरित्रहीनता ही कारण रहा है।

यदि हम चोर बाजारी के मूल कारणों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालें तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि चरित्र-बल का अभाव ही राष्ट्र के अधिकतर दुःखों का मूल कारण है। न राष्ट्रपति के आर्डिनेंस उस रोग का निवारण कर सकते हैं, और न धारासभा के बनाये कठोर कानून। उक्त रोग की असली दवा तो एक ही है—वह यह कि भारत के नागरिकों का नैतिक स्तर ऊंचा किया जाए।

स्वराज्य होने पर भी सरकारी महकमों में रिश्वत और भ्रष्टाचार की शिकायतों में कमी नहीं हुई, कुछ वृद्धि ही हुई है। सम्भव है बढ़ने की शिकायत में कुछ अत्युक्ति हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दफ्तरों में रिश्वत का बाजार मन्दा नहीं हुआ। कुछ लोग इसके लिए केवल सरकार को कोस कर संतोष कर लेते हैं, परन्तु सोचकर देखें तो अनर्थ इतना परिमित नहीं है। रिश्वत में सदा दो साझीदार होते हैं, एक लेनेवाला और दूसरा देनेवाला। यदि हम इन दोनों गोलार्धों को मिलाकर एक गोला बनाए तो वह लगभग सारे राष्ट्र पर व्याप्त हो जाएगा। क्या इसमें कोई संदेह है कि भ्रष्टाचार के इस प्रकार का कारण भी चरित्रबल का अभाव ही है ?

५

अन्त में एक दृष्टान्त मैं ऊंचे दरजे के सार्वजनिक जीवन से देना चाहता हूं। महात्मा गांधी की इच्छा थी कि स्वराज्य मिल जाने पर राज्य के मंत्री लोग निर्वाहार्थ केवल ५००) की मासिक राशि लिया करें। वर्तमान महंगाई को ध्यान में रखकर उस राशि को यदि बढ़ा दें तो

१०००) या अधिक-से-अधिक १५००) मासिक वेतन नियत किए जा सकते थे। परन्तु अब जो वेतन नियत किए गए हैं, वे भारत–जैसे गरीब देश के लिए अधिक ही हैं। उन वेतनों और उसके साथ लगे हुए दावतों आदि के व्ययों के प्रभूत प्रलोभनों ने सर्वसाधारण देशभक्तों में सरकारी ओहदों की हविस इतनी अधिक उत्पन्न कर दी है कि तपस्या और सेवा का वातावरण एकदम नष्ट हो गया है और देशवासियों ने देशसेवा के फल को नापने के लिए आर्थिक मापदंड हाथ में ले लिया है। इसे भी हम अपनी नैतिक शिथिलता का ही परिणाम समझते हैं। हमारे चरित्र अभी ऐसे दृढ़ नहीं हुए कि थोड़े-से आर्थिक प्रलोभन की आंच लगने से पिघलने न लगें। यह निर्विवाद है कि आज हमारे सार्वजनिक जीवन में जो अराजकता दिखाई देती है, वह सरकार द्वारा की जानेवाली समाजसेवा के बढ़े हुए आर्थिकमूल्य के कारण ही है। परिणाम यह हुआ है कि आज हमारे जीवन में त्याग के स्थान पर भोग और सादगी के स्थान पर टीप-टाप का प्रवेश होता जा रहा है।

६

इस लेख को समाप्त करने से पहले मैं इस बढ़ते हुए रोग के एक और चिह्न की चर्चा करना चाहता हूं। सन् १९५३ में २२ अगस्त के दिन दिल्ली से १२ मील की दूरी पर महरौली में कई वर्षों के पश्चात् 'फूलवालों की सैर' के मेले का पुनरुद्धार किया गया। इसमें उपस्थित होने के लिए जो निमन्त्रण पत्र भेजे गए थे, वे म्युनिसिपल कमेटी के चेयरमैन के दफ्तर से प्रचारित हुए। मेले के प्रारम्भ में जो प्रास्तावित भाषण हुआ, वह प्रदेश सरकार के मुख्य मंत्री चौ० ब्रह्मप्रकाश का था और उद्‌घाटन-भाषण देनेवाले थे स्वयं पं० जवाहरलाल नेहरू।

अब से लगभग ३० वर्ष पहले, जब राष्ट्रीय आन्दोलन पूरे यौवन पर आ रहा था, दिल्ली कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने इस मेले का सक्रिय विरोध किया था। जोरदार प्रचार और पिकेटिंग का यह प्रभाव हुआ था कि

अनाचार और विलासिता का यह महोत्सव वर्षों तक बन्द रहा। यदि उन दिनों के विरोधविषयक विज्ञापनों को पढ़ें तो प्रतीत होता है कि उस समय के कांग्रेसी 'फूलवालों की सैर' को वेश्यागमन, मद्यपान, और विलासिता का अड्डा मानते थे। समझ में नहीं आता कि स्वराज्य मिलने के ५ वर्षबाद कौन-सा ऐसा नया परिवर्तन आ गया है कि वही उत्सव कांग्रेस के कर्णधारों की संरक्षा के योग्य बन गया है। दिल्ली के पुराने निवासी जानते हैं कि उत्सव का केवल एक परिणाम होता था और वह यह कि दुराचार को खुला लाइसेंस मिल जाता था। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि राष्ट्रीय सरकार ने कौन-से ऐसे नये नियमोपनियम बना दिये हैं, जिनसे इस उत्सव का विष निकल जाएगा। यह भी एक प्रश्न है कि इस उत्सव के बिना राष्ट्र का कौन-सा काम अटक गया था, जिसे चलाने के लिए कांग्रेस की सारी मशीन को हिलाना पड़ा। इन प्रश्नों का एक यही. उत्तर सूझता है कि स्वराज्य मिलने के पश्चात् हमारा नैतिक दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया है। हम समझ रहे हैं कि त्याग का समय चला गया, अब भोग का समय आ गया है।

परन्तु सचाई यह है कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए चरित्र-बल की जितनी आवश्यकता है, स्वाधीनता की रक्षा के लिए उससे कहीं अधिक आवश्यकता है।

: ४ :

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण के लिये उपयुक्त शिक्षा आवश्यक

मैंने अपने इससे पूर्व लेख में बतलाया था कि इस समय राष्ट्र की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उसके सदस्यों का चरित्र-सम्बन्धी स्तर ऊंचा हो। प्रश्न यह है कि उसका उपाय क्या है? किन साधनों से राष्ट्र के चरित्र-सम्बन्धी नैतिक निर्बलता को दूर करके उसे इस योग्य बनाया जा सकता है कि वह स्वतंत्र रहने का अधिकारी बन सके ?

राष्ट्र के चरित्र को सामुदायिक रूप से ऊंचा करने के लिए निम्न लिखित साधनों को काम में लाना आवश्यक है:—

१. शिक्षा प्रणाली का ऐसा सुधार हो कि वह राष्ट्र के बालकों के चरित्र-निर्माण का मुख्य साधन बन जाये ;

२. लोकमत बनाने के रेडियो, समाचार-पत्र आदि जितने साधन हैं, उनका संचालन राष्ट्र के आचार-सम्बन्धी आदर्शों को उन्नत करने और सर्वसाधारण के मन, वाणी और कर्म में उनका समावेश करने के लिए किया जाए ;

३. सरकारी ओहदों, नौकरियों और प्रति दिन के कारोबार में चरित्र की शुद्धता और सचाई को मुख्य स्थान दिया जाए। इस सिद्धांत को मिथ्या माना जाए कि राज-काज में पड़े हुए लोगों का निजू चरित्र, रहन-सहन या खान-पान एक निजी वस्तु है, जिसका उसके सरकारी कर्त्तव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे सरकार द्वारा अन्य कार्यों की पूर्ति के लिए प्रभावशाली

आयोग बनाए गए और उनकी बनाई हुई योजनाओं को पूरा करना आवश्यक समझा गया, उसी प्रकार राष्ट्र के चरित्र-सम्बन्धी स्तर को विशुद्ध रखने और ऊंचा करने के साधनों पर विचार करने के लिए भी विद्वान् और सदाचारी लोगों का एक आयोग बनाया जाय जो राष्ट्र की नैतिक उन्नति के बारे में विस्तृत कार्य-क्रम बना कर राष्ट्र के सामने उपस्थित करें।

१. शिक्षा-पद्धति में सुधार

मैंने सबसे पहला स्थान शिक्षा को दिया है। शिक्षा-पद्धति में सुधार राष्ट्र के चरित्र को बनाने का सबसे प्रथम और मुख्य साधन है। शिक्षा के अन्य सब उद्देश्य गौण हैं, सबसे मुख्य उद्देश्य चरित्र का निर्माण है।

तैत्तरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय में शिक्षा के उद्देश्य और स्वरूप का विस्तार से वर्णन है। उसमें शिक्षा के बाह्य रूप 'स्वाध्याय और प्रवचन' 'पठन और पाठन' का सत्य, ऋत, दम आदि गुणों से अटूट सम्बन्ध जोड़ा गया है। उसमें कहा है:—

ऋतम् च स्वाध्याय प्रवचने च
सत्यम् च स्वाध्याय प्रवचने च। इत्यादि

इसी प्रकार दम, शम, मानुष (मानवता) आदि का शिक्षा में समावेश किया गया है। उपनिषदों के अनुसार स्वाध्याय और प्रवचन साधन है और गुणों की प्राप्ति साध्य है।

यूरोप के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य आदर्श मनुष्य तैयार करना बतलाया है। वही पुस्तक-विद्या सार्थक है जो ऊंचे आदर्शों की भावना से ओतप्रोत जीवन को जन्म देती है।

अमरीका के एक आधुनिक शिक्षा-विज्ञ श्री ए० टी० हार्डलेने शिक्षा के निम्न लिखित उद्देश्य बतलाए हैं:—

१. ज्ञान प्राप्त करना,
२. जीवन की कला का शिक्षण,

३. अच्छे नागरिक बनना तथा

४. अभ्यास द्वारा संयम को स्वभाव का अंग बना देना।

यदि देखा जाय तो हार्डले की यह व्याख्या उपनिषदों द्वारा की गई व्याख्या का रूपान्तर मात्र है। इसमें पुस्तक-ज्ञान को चरित्र-निर्माण की अपेक्षा चौथाई महत्व दिया गया है।

नवीन भारत के निर्माताओं में से स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी जैसे प्रमुख महानुभावों ने शिक्षा के प्रसंग में चरित्र-निर्माण को सबसे ऊंचा स्थान दिया है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है:—

"हमें बाह्य-ज्ञान को अपने अन्दर लेते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जीवन को बनाने वाला, मनुष्य को मनुष्यता देने वाला और चरित्र का निर्माण करने वाला हो। यदि तुमने चरित्र-सम्बन्धी पांच विचारों को भली प्रकार अपना लिया है, उन्हें आपने जीवन और चारित्र का अंग बना लिया है, तो समझ लो, तुमने उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शिक्षा प्राप्त कर ली है जिसे सारा पुस्तकालय याद हो।

स्वामी दयानन्द ने शिक्षा के प्रकरण में लिखा है—"अपनी सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या-धर्म-सम्पन्न और उत्तम शिक्षा युक्त करना माता-पिता का कर्तव्य-कर्म, परम धर्म और कीर्ति का काम है।"

महात्मा गांधी राष्ट्रीय शिक्षालय का सबसे प्रमुख लक्ष्य यह मानते थे कि विद्यार्थियों को चरित्रवान बनाए और उन्हें निर्भय करे। गुजरात विद्यापीठ के आरम्भोत्सव में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—

"हम इस विश्वविद्यालय का उद्घाटन केवल शिक्षा के केन्द्र के रूप में नहीं अपितु एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कर रहे हैं, ताकि यह छात्रों को चरित्रवान् बनाए और उनके हृदयों में से डर को निकाल दे। इस कार्य में हमें जितनी सफलता मिलेगी, हम उतने ही स्वराज्य के योग्य बन जाएंगे।"

पुराने और नवीन आचार्यों के ये उद्धरण मैंने यह दिखाने के लिए दिए है कि शिक्षा के अन्य सब उद्देश्य गौण– यहाँ तक कि पुस्तक-ज्ञान भी—दूसरे दरजे पर है। पहला दरजा चरित्र-निर्माण को ही प्राप्त है।

यह अत्यन्त दुःख की बात है कि हमारे देश की शिक्षा-पद्धति में जो न्यूनता अंग्रेजी काल में थी, वह न्यूनाधिक रूप में अब तक जारी है। अंग्रेजी काल में शिक्षालयों का प्रमुख उद्देश्य भारतवासियों को अंग्रेजी पढ़ा-लिखा कर सरकारी नौकरियों के या वकालत आदि पेशों के योग्य बनाना था। उस समय राष्ट्र के नेताओं की शिकायत थी कि देश की शिक्षा-पद्धति उद्देश्यहीन है, क्योंकि केवल सरकारी नौकरी जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि दशा आज भी वही है। शिक्षा मंत्रालय के अपने हाथों में आने पर भी हमारी शिक्षा की नौका उसी लक्ष्यहीन पद्धति पर चली जा रही है। उस दिन अन्नामलाई विश्वविद्यालय के दीक्षांत-समारोह में भाषण करते हुए श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी और डा० पी० रामस्वामी अय्यर ने जो बातें कहीं, उनमें स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया था कि हमारे देश में शिक्षा बिना किसी योजना, बिना किसी दृढ़ नेतृत्व और बिना निश्चित लक्ष्य के दी जा रही है। यदि ऐसी ही दशा रही तो हमारे देश के भावी नागरिकों को भी उन्हीं कठिनाइयों और कमियों का सामना करना पड़ेगा, जिसका सामना वर्तमान सन्तति को करना पड़ रहा है। देश की सरकार और शिक्षक-समाज को मिलकर देश-पद्धति की ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसमें राष्ट्र के चरित्र-निर्माण का स्थान सबसे ऊंचा हो।

२. समाचारपत्रों का दायित्व

आजकल राष्ट्र का चरित्र बनाने और बिगाड़ने में शिक्षा से उतरकर यदि किसी शक्ति का हाथ है तो वह समाचारपत्र है। अशिक्षित जनता के चरित्र के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि वह न बहुत बिगड़ा

और न ही बिगड़ने की सम्भावना है। अशिक्षित जनता ठोस चट्टान के समान होती है। वह समय की चोटों को बहुत शान्ति से सह लेती है। वातावरण से तथा परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाली श्रेणियां दो हैं। एक ऊपर की श्रेणी और दूसरी मध्यम श्रेणी। ऊपर की श्रेणी में हम अधिक धनशाली और अधिक शिक्षित जनों की गिनती करते हैं। मध्यम श्रेणी में भी आर्थिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से मध्यम वृत्तिवालों का परिगणन होता है। वर्तमान युग में दोनों पर समाचारपत्रों का बहुत तीव्र और गहरा असर होता है। जिस देश के समाचारपत्र राष्ट्र को नैतिकता का पाठ पढ़ाना और उसके चरित्र के स्तर को ऊँचा करना अपना विशेष ध्येय समझते हैं तथा उसके अनुसार आचरण करते हैं, वह देश भाग्यशाली है। इसके विपरीत जिस देश के समाचारपत्रों के संचालकों का ध्येय धन कमाना हो जाता है उसका पतन निश्चित हैं। देश को नैतिकता की शिक्षा देना समाचारपत्रों का गौण या अवान्तर उद्देश्य नहीं है। जो समाचारपत्र यह समझने लगें कि लेखों अथवा विज्ञापनों की उपादेयता का एक मात्र लक्ष्य यह है कि उससे आय बढ़े और प्रसार में वृद्धि हो, उन्हें हम राष्ट्र का मित्र नहीं कह सकते। राष्ट्र के लिए वे ही पत्र हितकर हो सकते हैं, जो समाचार देने और पाठकों का मनोरंजन करने के आवेश में इस सत्य को न भुला दें कि मनुष्य और मनुष्य-समाज की सबसे बड़ी शक्ति और सम्पत्ति उसका चरित्र है। यह कहना तो अत्युक्तिपूर्ण होगा कि हमारे देश के अधिक समाचारपत्र नैतिकता के विपरीत चलते हैं, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछेक को छोड़कर शेष पत्रों का दृष्टिकोण जितना आर्थिक हो गया है उतना नैतिक नहीं रहा। सरकार के बल से हो या लोकमत के बल से, यह आवश्यक है कि देश के कल्याण के लिए समाचारपत्रों को राष्ट्र में नैतिकता के भाव का पोषण अपना मुख्य ध्येय मानना चाहिए। जिन लेखों, समाचारों या आलोचनाओं से लोकरुचि बिगड़े, आधारहीनता को पुष्टि मिले या सदाचार के प्रति विरोध या उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो, उन्हें प्रकाशित न करना सामयिक

पत्रों का कर्त्तव्य होना चाहिए। भारत सरकार ने प्रेस कमीशन नियुक्त किया है। यदि वह समाचारपत्रों की अन्य समस्याओं के अतिरिक्त उनके नैतिक उत्तरदायित्व की ओर सरकार और पत्रकारों का ध्यान आकृष्ट कराये तो वस्तुतः वह राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

३. सिनेमा का प्रभाव

गत ५० वर्षों में सिनेमा-व्यवसाय का असाधारण विस्तार और विकास हुआ है। पहले वह मौन चित्रों के रूप में आया, फिर सवाक् चित्रों के रूप में प्रकट हुआ और भविष्य में विज्ञान की सहायता से और भी अधिक आकर्षक और व्यापक बनकर अच्छे या बुरे प्रचार का सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न साधन बन जायगा। उसकी भलाई या बुराई की शक्ति को अंगीकार करके ही सरकार ने उसे सेंसरशिप के बंधनों में बांधने की चेष्टा की है। इस समय परिस्थिति यह है कि सिनेमा-व्यवसाय पर सरकार का पूरा नियन्त्रण है। यह कहा जा सकता है कि भारत के चित्रपट पर जो भी चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं, उनपर सरकार के बनाये हुये सेंसर की स्वीकृति-मुहर लगी होती है। यदि मैं यह कहूँ तो शायद किसीको भी मतभेद न हो कि आजका भारतीय सिनेमा आचार-शिक्षा की दृष्टि से केवल शून्य ही नहीं, विषपूर्ण भी है। हाली-वुड का अनुकरण करने में भारत के चित्र-निर्माताओं ने अन्य सभी देशों को पीछा छोड़ दिया है। हमारे देश में धार्मिक चित्र का अभिप्राय है, असम्भव गाथाओं से और भद्दे चमत्कारों से पूर्ण ऐसा चित्र जिसमें जाति के पूज्य देवी-देवताओं और प्राचीन महापुरुषों को उपहास्य रूप में प्रदर्शित किया गया हो। जिन चित्रों का उद्देश्य निर्दोष शिक्षा देना हो उनकी संख्या सौ में पाँच भी नहीं है। यदि कहीं शिक्षादायक दृश्यों या वाक्यों का प्रयोग होता भी है तो उसके आसपास इतने अनाचारपूर्ण दृश्य और वाक्य रख दिये जाते हैं कि साधारण दर्शकों के मन पर भलाई की अपेक्षा बुराई का प्रभाव ही अधिक पड़ता है। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा

सकता है कि आज का भारतीय सिनेमा मनोरंजन का साधन तो है, परन्तु राष्ट्र के चरित्र को उन्नत बनाने या भ्रष्टाचार के विरुद्ध भावाना पैदा करने का साधन नहीं। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। वर्तमान परिस्थिति के लिए चित्र-निर्माता और सरकार दोनों उत्तरदायी हैं। सरकार यदि बुद्धिपूर्वक नियन्त्रण का प्रयोग करे तो चित्रों की उछृङ्खलता और अनाचार का प्रचार करने की प्रवृत्ति का दमन करके, उन्हें राष्ट्रीय चरित्र को उठाने और दृढ़ करने का साधन बना सकती है। सरकार के लिए सिनेमा-व्यवसाय से जो धन-लाभ होता है, वह गौण और उसका जनता पर जो प्रभाव पड़ता है वह मुख्य होना चाहिए।

४. रेडियो कार्यक्रम

रेडियो वर्तमान जगत् में प्रचार का सबसे बड़ा और व्यापक साधन है। विशेष बात यह है कि वह सरकार के पूरे नियन्त्रण में है। ऐसी दशा में यह आशा करना उचित ही है कि उसे देश की जनता को उत्तम शिक्षा के देने का साधन बनाया जायगा ताकि वह देशवासियों को अच्छे और समर्थ नागरिक बना सके। हमें दुःख से कहना पड़ता है कि उसके कार्यक्रम का निर्णय करते हुए या तो मनोरंजन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है या सरकारी भाषणों, वक्तव्यों और समाचारों की ओर। ऐसी चीजें कम दी जाती हैं जिनसे जनता के चरित्र-स्तर को ऊँचा करने में सहायता मिले। धार्मिक प्रोग्राम का अभिप्राय समझा जाता है कृष्ण-भक्ति के या दुर्गा-पूजन के गाने। कहानियाँ सुनाई जाती हैं तो या तो किसी जासूसी कहानी की सीरीज का चुनाव किया जाता है अथवा किन्हीं प्रेम-समस्याओं से पूर्ण उपन्यासों की माला सप्ताहों तक पिरोई जातीहै। वे चीजें, जिन्हें लोग उपन्यास बेचनेवाले स्टालों पर खरीदकर पढ़ सकते हैं या सिनेमा-घरों में जाकर देख सकते हैं, रेडियों के कार्यक्रमों में भर दी जाती हैं, जिससे प्रचार के अधिकृत साधन का प्रयोग बहुत कुछ मध्यम और निकृष्ट कोटि के कार्य के सम्पादन में ही हो रहा है। अत्यन्त आवश्यक है कि

रेडियो का कार्यक्रम बनाते हुए यह ध्यान रखा जाए कि वह देश के नागरिकों की मनोवृत्ति को उनके कर्त्तव्यों की ओर आकृष्ट करके नैतिकता को विकसित करनेवाला हो। इन बातों की ओर रेडियो के संचालकों का इतना कम ध्यान है कि डा० केसकर के रेडियो शासनकाल में फिल्मी संगीत का बहिष्कार करके जिस शास्त्रीय संगीत को प्रधानता दी गई है उसके गाने भी भावों की दृष्टि से कभी-कभी इतने कुरुचिपूर्ण होते हैं कि उनके गाए जाने के समय घर में रेडियो को बन्द कर देना पड़ता है।

दृष्टान्त

महाभारत में एक स्थान पर कहा है कि श्रुति और स्मृति के चक्कर में न पड़कर साधारण व्यक्ति के लिये कर्तव्य जानने का एक यह भी मार्ग है और वह है––'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थात् सामान्य मनुष्य अपने से ऊँचे दरजे के मनुष्यों को जो कुछ करते देखता है, उसीको धर्म मानकर वैसा ही करने लगता है। भगवद्गीता में ठीक ही कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थात्, ऊंचे दरजे के लोग जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग उसीको प्रमाण मानते और उसका अनुकरण करते हैं। इस कारण यह कहना सर्वथा सत्य है कि मान्य पुरुषों का दृष्टान्त सर्वसाधारण के लिए सबसे बड़ा धर्मशास्त्र है।

यह स्पष्ट है कि यदि हम चाहते हैं कि भारत के नागरिक चरित्रवान् हों, भ्रष्टाचार से हीन हों, नैतिक बल से युक्त हों और सत्य-प्रेमी हों तो देश के नेताओं को वैसा बनना पड़ेगा। एक महात्मा गांधी के दृष्टान्तो ने लाखों सत्याग्रही उत्पन्न कर दिए थे। आज भी सर्वसाधारण जनता को विशुद्धता के मार्ग पर चलाना नेताओं और पदारूढ़ों के हाथ में है। यदि वे लोग जो स्वराज्य प्राप्त होने पर पदारूढ़ होकर राष्ट्र के नेता समझे जाने लगे हैं, सादगी से रहेंगे तो जनता भी सादगी से रहना सीखेगी।

यदि वे रईसी और विषय-लोलुपता का दृष्टान्त स्थापित करेंगे तो सर्वसाधारण से यह आशा रखना व्यर्थ है कि वह महात्माजी के आदर्शों पर चलती रहेगी। आज अपने-अपने क्षेत्र में दो नेता हैं। एक सन्त विनोबा भावे, दूसरे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू। आंखें खोलकर देखिए कि सन्त के अनुकरण से कितने लोगों ने विलासिता और अमीरी का त्याग करके देश-भ्रमण का रास्ता लिया है और प्रधान मंत्री का अनुकरण करते हुए कितने लोगों ने अपनी वेश-भूषा, रंग-ढंग और रहन-सहन की पद्धति का निर्माण किया है। तुलना से आपको समझ में आ जाएगा कि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में महाजन कौन है? फकीर या राज्य-मंत्री? सारांश यह कि सामान्य प्रजा का सुधार राज्य के मुख्य व्यक्तियों के सुधार से हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मैं इस विषय की गहराई में नहीं जाना चाहता क्योंकि उसका व्यक्तिगत रूप बन जायगा। परन्तु मैं इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि हमारे अधिकार-सम्पन्न नेता अधिकार प्राप्त करने पर श्रेय से प्रेय की ओर, त्याग से भोग की ओर, संयम से स्वच्छन्दता की ओर जिस उत्सुकता से छलांग मारते हैं, उसका देश के नैतिक वातावरण पर बहुत बुरा असर हो रहा है। इस विषय में देश के नेताओं को अत्यधिक सचेत होना चाहिए।

: ५ :

पंचवर्षी योजना में शिक्षा की उपेक्षा

बहुत लम्बी चौडी और धूम धाम की घोषणाओं के पश्चात् भारत सरकार की ओर से जो पंचवर्षीय योजना प्रकाशित हुई थी, वह कई दृष्टियों से अत्यन्तनिराशाजनक थी। किसी देश के भावी निर्माण के लिये जो योजना तैयार की जाय, उसमें कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है अन्यथा योजना का कोई अर्थ नहीं रहता। वे विशेषतायें निम्न लिखित हैं।

१. योजना का एक स्पष्ट लक्ष्य बिन्दु होना चाहिये। योजना बनाने-वालों को अपनी दृष्टि सदा उसपर रखनी चाहिये।

२. यदि समय का कोई बन्धन रक्खा जाय तो यह स्पष्ट होजाना चाहिये कि उतने समयं में लक्ष्य के कितने अंश की पूर्ति होगी।

३. लक्ष्यपूर्ति के सब साधनों के अन्तर्गत एक सामान्य कार्य नीति का होना आवश्यक है। यदि एक निश्चित कार्य नीति न हो तो लक्ष्य की पूर्ति असम्भव होती है। जब हम इन तीनों विशेषताओं को तलाश करते हैं तो हमें भारत सरकार की शिक्षा सम्बन्धी योजना बहुत खोखली दृष्टि गोचर होती है। मैं इस लेख में योजना के केवल एक शिक्षा भाग को सामने रखकर यह परीक्षा करुंगा कि उसमें वह विशेषतायें विद्यमान हैं, या नहीं, जिन से कोई योजना वस्तुतः योजना कहलाने योग्य होती है।

पंचवर्षी योजना में शिक्षा पर जो परिच्छेद लिखा गाया है, उसे पढ़कर यह जानना कठिन है कि योजना आयोग का शिक्षा के सम्बन्ध में लक्ष्य बिन्दु क्या है? यह पता नहीं चलता कि वह इन पांच वर्षों में

भारत के शिक्षा क्रम में क्या परिवर्तन करना चाहता है। इस प्रसंग में योजना के कुछ उद्धरण यहां दिये जाते हैं।

"इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा प्रणाली के आधारभूत विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है, और यदि हम योजना-बद्ध उन्नति करना चाहते हैं तो शिक्षा देने के तरीकों को भी बदलना पड़ेगा। विषय बहुत विस्तृत है, यहाँ तो हम केवल उन बातों की ओर निर्देश करना चाहते हैं, जिनका राष्ट्रीय योजना पर प्रभाव पड़ेगा। बहुत से प्रश्नों पर हम अबतक कोई सिफारिश तैयार नहीं कर सके।"

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि कमीशन न तो अभी तक शिक्षा सम्बन्धी लक्ष्य के बारे में किसी निश्चय पर पहुंचा है, और न उपायों के बारे में। सम्भवतः इन पर उसने विचार भी नहीं किया। जो कुछ उसने किया है वह यह है कि शिक्षा की उन्नति के मार्ग में आनेवाली आर्थिक बाधाओं का परिगणन कर दिया है। योजना में लिखा है :

"यह स्पष्ट है कि १२३ करोड़ रुपयों की राशि : जिसमें से केन्द्र ३२ करोड़ देता है: जिसकी सिफारिश योजना के प्रथम भाग में की है, देश की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नाकाफी है।"

नाकाफी सहायता देने का मूल कारण यह बतलाया गया है कि राज्य के पास रुपया कम है। योजना में अनेक युक्तियों से दो बातें सिद्ध की गई हैं। एक तो यह कि, यदि हम शिक्षा की पर्याप्त सहूलित पैदा न करेंगे तो देश की बहुमूल्य मानवीय सम्पत्ति बर्बाद हो जाएगी और दूसरी यह है कि इस समय राज्य के पास पैसे की कमी है, इस कारण शिक्षा की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता।

जब यह हालत है तो किसी लक्ष्य बिन्दु का तय करना असम्भव ही है। कम-से-कम योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कोई स्पष्ट लक्ष्य बिन्दु निर्धारित नहीं किया।

"राष्ट्रीय शिक्षा का ध्येय" शीर्षक के नीचे मैंने लक्ष्य की तलाश की तो बहुत निराशा हुई। प्रारम्भ में लिखा है हमारा तात्कालिक ध्येय यह

है कि हम परिस्थितियों और साधनों द्वारा परिमित सीमाओं में शिक्षा पद्धति को राष्ट्रीय योजना के अनुकुल बनायें।" अनुकूल बनाने की व्याख्या करने में रिपोर्ट के निर्माताओं ने शिक्षा सम्बन्धी किताबों का अच्छा निचोड़ लिख दिया है। इस समय सरकार किस लक्ष्य को सामने रखकर चलेगी या जो लोग शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, वह किधर जायें, इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर उस शीर्षक के नीचे नहीं मिलता।

ध्येय की व्याख्या के पश्चात् रिपोर्ट में शिक्षा के भिन्न २ विभागों पर विचार प्रकट किये गये हैं। पहले मौलिक शिक्षा को लिया गया है। उसकी उपयोगिता को दर्शाकर यह निर्णय किया गया है कि राज्यों को अपने यहाँ मौलिक शिक्षा के केन्द्रों की स्थापना करनी चाहिए।

उसके पश्चात् यूनिवर्सिटी शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा है। उसका सारांश यह है यद्यपि यूनिवर्सिटी कमीशन ने बहुत अच्छे २ सुधार प्रस्तुत किये हैं परन्तु धनाभाव से उन्हें हाथ में लेना कठिन है। हाँ, विश्व विद्यालयों को अपनी अपनी न्यूनतायें पूरी करनी चाहिएँ।

यही हालत सोशल शिक्षा की है। वहाँ भी जनता को कुछ परामर्श दिये गये हैं। सरकार क्या करेगी इसका पता नहीं चलता।

अन्त में यह शुभ इच्छा प्रकट की गई है कि देश के निवासी अपनी सहायता आप करेंगे, और गांधीजी शिक्षा में जो परिवर्तन करना चाहते थे, उन्हें सम्पन्न कर देंगे।

शिल्प शिक्षा के बारे में अवश्य कुछ थोड़े से आशाजनक वाक्य लिखे गये हैं। उनसे यह भान होता है कि आयोग सरकार को शिल्प शिक्षा की उन्नति के लिए कुछ करने की चिन्ता है।

इस प्रकार हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि योजना आयोग ने शिक्षा सम्बन्धी योजना के बारे में बहुत ही थोड़ा कहा है, और जो कुछ कहा है वह आशाजनक नहीं है। उसे हम योजना का नाम नहीं दे सकते।

हमारी पंचवर्षीय योजना में यह बहुत बड़ा दोष है कि वह कोई निश्चित योजना न होकर योजना सम्बन्धी प्रारम्भिक विचारों का समुच्चयमात्र है। प्रायः सभी विषयों पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, उन्हें योजना सम्बन्धी प्रस्तावना ही कह सकते हैं। योजना के प्रमुख कर्णाधार पं० जवाहर लाल ने संसद में पंचवर्षी योजना के प्रस्ताव को रखते हुये जो भाषण दिया था, उसमें यह स्वीकार किया था कि इस योजना की आधारभूत कोई विशेष फिलासफी नहीं है। परिस्थितियों और बाधाओं पर विचार करके जो कार्यक्रम सोचा जा सका है, वह योजना के रूप में पेश किया गया है। यह तो हुई सारी योजना की बात, जब हम शिक्षा कों सामने रखकर योजना का अध्ययन करते हैं, तो हमें कहना पड़ता है कि अधूरी योजना में सबसे अधूरा वह अध्याय है, जिसका भारतीय लोकतन्त्र राज्य की ३५ करोड़ जनता की शिक्षा में सम्बन्ध है। इस २५३ पृष्ठों की योजना में जहाँ अन्य विषयों को बीस-पचीस पृष्ठ तक मिले हैं, शिक्षा के विषय में केवल ८ पृष्ठ खर्च किये गये हैं। और उनमें भी केवल शिक्षा की कुछ समस्याओं की ओर निर्देश दिया गया है, कोई विशेष योजना स्पष्ट रूप में उपस्थित नहीं की गई। हाँ इतना अवश्य किया गया है कि साक्षरता प्रचार, मौलिक शिक्षा तथा यूनिवर्सिटी सुधार के सम्बन्ध में जो योजनाएँ समय समय पर बनाई जाती रही हैं, उनको काम में लाने के आर्थिक कारणों की व्यवस्था कर दी गई है। शिक्षा जैसे आवश्यक विषय की उपेक्षा को स्वयं प्रधान मन्त्री ने भी अनुभव किया है। आपने अपने भाषण में कहा—

"मुझे इस बात से दुःख हुआ कि शिक्षा जैसे विषयों की योजना में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सका। इसमें सन्देह नहीं, कि शिक्षा-प्रचलित पद्धति को शिक्षा नहीं, अपितु मौलिक शिक्षा-आवश्यक और जीवनोपयोगी है परन्तु हमें यह भी देखना पड़ता है कि क्या काम पहले किया जाय। यदि हमारे सामने नदी घाटी सम्बन्धी ऐसी योजना हो जिससे अधिक अन्न और शक्ति की उत्पत्ति की जा सके, तो क्या हमें

अपने उपलब्ध साधनों का व्यय शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे विषयों पर कर देना चाहिए ? यदि हमारे पास जो कुछ है वह हम ने शिक्षा जैसे कामों पर खर्च कर दिया तो उन्नति कैसे हो सकेगी, और हम जहाँ के वहीं खड़े रह जायेंगे ।"

प्रधान मंत्री के इन वाक्यों को सुनकर मैं आश्चर्य चकित रह गया। मैं सोचने लगा कि हम १६५१ में हैं या १६४६ में ? हमारे गणराज्य में प्रत्येक वयस्क को मत देने का अधिकार प्राप्त है। मताधिकार से लाभ उठाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मतदाता कुछ-न-कुछ शिक्षित हो। सर्वथा अशिक्षित मतदाता स्वराज्य को कैसे निभायेंगे। जिस राज्य के ८०-८५ मतदाता सर्वथा अशिक्षित हों, उसमें लोकतन्त्र कैसे चल सकता है ? वहाँ शायद नाजीराज्य चल सके, या बौलशेविक राज्य निभ जाय परन्तु अधिकांश अशिक्षित मतदाताओं वाले देश में लोकतन्त्रात्मक राज्य चिरस्थायी नहीं रह सकता। अशिक्षा की मित्रता तानाशाही से हो सकती है, लोकतन्त्र से नहीं। यह स्पष्ट बात है कि भारत जैसे देश की अपनी सरकार शिक्षा को योजना के कार्यक्रम में सबसे पीछे नहीं डाल सकती। यदि डालती है तो वह इस नये लोकनन्त्र की असफलता को स्वयं निमन्त्रण देती है ? भारत सरकार की पंचवर्षीं योजना में शिक्षा को जो गौरव हीन और पिछड़ा हुआ स्थान दिया गया है, उसे हम उपेक्षा या अदूरदर्शिता का परिणाम ही कह सकते हैं। हम चाहते हैं कि भारत की राष्ट्रीय सरकार गणतन्त्र के लिये सार्वजनिक शिक्षा की आवश्यकता को अनुभव करके अपनी योजनाओं में उसे मुख्य स्थान दे।

परिशिष्ट

शिक्षा और चरित्र निर्माण पर राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने गुरुकुल कांगड़ी के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव पर २ मार्च १९५० के दिन जो भाषण दिया था उसके कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

"देश की सेवा के लिए अच्छे सुचरित्र, बुद्धिशाली कर्मठ और त्यागी काम करनेवालों की जरूरत है। जो नया विधान देश के लिए बनाया गया है उसमें सभी २१ वर्ष के लोग मत देकर प्रतिनिधि चुने जायेंगे उनके हाथों में प्रांत अथवा सारे देश के शासन की बागडोर रहेगी और उनके ही निश्चयों के अनुसार देश का सारा काम चलाया जायगा। उनके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में राजकीय कर्मचारी होंगे जिनको प्रतिनिधियों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार देश के शासन का काम चलाना होगा। इन सभी स्थानों के लिए, चाहे वह प्रतिनिधियों के हों अथवा कर्मचारियों के, योग्य ईमानदार सेवकों की आवश्यकता होगी। काम भी कितने प्रकार के होंगे। विद्या प्रचार के लिए ग्रामीण पाठशालाओं से लेकर उच्च से उच्च कोटि की संस्थाओं के लिए शिक्षक और ऐसे विद्वान् जो हर प्रकार की विद्याप्रतिष्ठान सम्बन्धी खोज और अनुसंधान करके नित्य नये विचारों का प्रचार कर सकें, बीमरी और अस्वस्था दूर करने के लिए ऐसे लोगों की जो केवल इन विषयों में निष्णात ही न हो पर सच्ची भावना से काम करनेवाले हों, जरूरत दड़ेगी। गरीबी दूर करने के लिए सम्पत्ति बढ़ाने के उपायों के

रास्ते ढूँढ निकालने वाले और जो सम्पत्ति प्रकृति ने देश को दी है, उसको देश और जनता की सेवा में लगा देने की शक्ति रखनेवाले लोगों की भी आवश्यकता होगी जो देश में दरिद्रता के स्थान पर सम्पन्नता ला सकें। अर्थात् सभी प्रकार के काम करनेवालों की आवश्यकता देश को है। ऐसे लोगों को तैयार करने का काम हमारे विद्यालयों और दूसरी शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को है।

चरित्र-गठन में धार्मिक भावना और श्रद्धा बहुत असर डालती है। धार्मिक भावना से अर्थ कट्टरपना नहीं है और श्रद्धा अंधभक्ति नहीं है, पर यह ऐसी चीज़ है जो परोक्ष रीति से मनुष्य के जीवन पर प्रत्येक क्षण में बहुत असर डालती रहती है। और चाहे मनुष्य माने या न माने, उसका नैतिक चरित्र उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए यहाँ आपने उस धार्मिक भावना का भी काफी प्रभाव रखा है। मैं मानता हूँ कि हमारे सभी शिक्षालयों का उद्देश्य होना चाहिये कि विद्याभ्यासी और सच्चरित्र सेवक देश को दें जो सब प्रकार के काम के लिए अपने को योग्य साबित कर सकें।

× × × ×

चरित्र के संबंध में एक ऐसी धारणा हो गई है कि इसके लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ता है। यह स्वतः बन जाता है। बात यह है कि जो कुछ स्वतः बन सकता है वह स्वतः बिगड़ भी सकता है और यही होता है। इसकी ओर ध्यान नहीं देने का एक प्रत्यक्ष फल यह होता है कि कुछ लोग तो अच्छे वातावरण और सच्चे सम्पर्क से जो उनको अनायास मिल जाता है बहुत अच्छे हो जाते हैं और कुछ लोग इन के विपरीत होने से बिगड़ भी जाते हैं इसलिए यदि प्रयत्नपूर्वक चरित्र सुधारने के लिए हमारे शिक्षालयों में कोई प्रबन्ध किया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसका परिणाम बहुत अच्छा होगा। मेरा उद्देश यह नहीं है कि विद्यार्थियों को सच्चरित्रता के संबंध में दिन प्रतिदिन मौखिक पाठ पढ़ाया

जाय। मैं मानता हूँ कि इसका भी कुछ असर अवश्य पड़ता है। पर मैं चाहता हूँ कि केवल मौखिक शिक्षा न दे कर कुछ ऐसे काम दिये जायें और किये जायें जिनके द्वारा विद्यार्थियों को कुछ न कुछ इस सम्बन्ध में वस्तुपाठ मिला करे। इसके लिए सामूहिक व्यायाम और खेल-कूद का भी अच्छा उपयोग हो सकता है और मनोरंजन के साधन भी ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि जिनका असर चरित्र पर अच्छा पड़ सकता है। पर यही साधन बुरे हों तो उनका बुरा असर भी पड़ सकता है। आजकल मैं देखता हूँ कि जितने ऐसे स्थान हैं जहाँ विद्यार्थियों के जमघट हैं, वहाँ सिनेमा के ग्राहकों की बड़ी तादाद विद्यार्थियों की ही हुआ करती है। सिनेमा में यदि अच्छे खेल दिखलाये गये तो उनका अच्छा असर पड़ सकता है। पर बुरे खेल का बुरा असर पड़े बिना रह नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि जो खेल शहरों और बाजारों में दिखलाये जाते हैं और जिनको ही अधिक करके विद्यार्थी लोग देखा करते हैं, उनका कोई अच्छा असर पड़ता है। इसलिए यदि इस प्रकार के मनोरंजन आवश्यक समझे जायँ तो उनका प्रबन्ध विद्यालय को स्वयं करना चाहिए जिसमें जांचे हुए खेल ही दिखलाये जायँ और विद्यार्थियों को खुले आम टाकी सिनेमा में जाने की इजाज़त न दी जाय, जिनमें, या तो आधुनिक यन्त्रों द्वारा किस तरह से चोरी डकैती की जाती हैं अथवा युवा अवस्था को प्रेम कहानी के खेल, जिनका कोई उच्च आदर्श नहीं, दिखाये जाते हैं। इस पर भरोसा करना कि केवल अच्छी कहानियां ही दिखाई जायगी, ठीक नहीं है क्योंकि जबतक ग्राहक उस प्रकार के अवांछनीय खेलों को पसन्द करते रहेंगे तबतक वह सामने आते ही रहेंगे और उनका रोकना कठिन ही रहेगा।

× × × ×

सेवा की भावना सेवा करके ही पैदा की जा सकती है और इसलिए यदि देश और समाज के अच्छे सेवक तैयार करने हैं तो उनके सामने क्रियात्मक रूप से सच्ची सेवा के उदाहरण रखने चाहिएँ और विद्यार्थियों

को इसका मौका देना चाहिए कि वह किसी-न-किसी सेवा कार्य में कुछ भाग ले सकें। केवल मौका ही नहीं, जहाँतक हो सके प्रोत्साहन भी देना चाहिए। इसलिए कोई भी शिक्षालय तबतक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जबतक उसमें वह सभी सामान जो स्वास्थ्य, विद्याभ्यास, चरित्रगठन, और सेवा के लिए आवश्यक हैं प्रस्तुत न हों।

आर्य समाज के इतिहास की

रूप रेखा

लेखक—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

इतिहास के तीन भाग होंगे। उनकी विषय-व्यवस्था निम्न लिखित होगी—

प्रथम भाग

१६०० तक। आर्यसमाज की स्थापना से पहले धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का निदर्शन, महर्षि दयानंद का आगमन, आर्य समाज की स्थापना, प्रचार युग, अन्य मतों से संघर्ष, संगठन का विस्तार, संस्था युग का आरम्भ।

द्वितीय भाग

संस्थाओं का विस्तार, प्रचार कार्य की नई दिशा, अंग्रेजी सरकार से संघर्ष, देश देशान्तरों में वैदिक धर्म का प्रचार, वर्तमान स्थिति।

तृतीय भाग (सचित्र)

आर्य समाज के वर्तमान कार्य का परिचय, आर्य समाज की संस्थाओं का परिचय, आर्य समाज के अतीत तथा वर्तमान विशेष कार्य कर्त्ताओं, सेवकों तथा उसके लिये आत्म बलिदान करने वालों का परिचय।

प्रत्येक भाग में लगभग ५०० पृष्ठ होंगे। प्रत्येक भाग का मूल्य संभवतः ६) होगा।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित पुस्तकें

विवेचनात्मक

१. स्वराज्य में चरित्र निर्माण क्या चरित्र के बिना स्वराज्य चल सकता है ?		१।)
२. जीवन संग्राम	... ...	१)
३. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा	....	१।)

ऐतिहासिक तथा जीवन चरित्र

१. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण		६॥)
२. महर्षि दयानन्द	... ...	१॥)
३. हमारे राष्ट्रपति	... ...	॥)

साहित्यिक

१. सम्राट् रघु	... ...	१।)

उपन्यास

१. सरला की भाभी	... ...	२)
२. सरला	....	३॥)
३. आत्मबलिदान	... .	३)
४. जमींदार	....	२)
५. शाह आलम की आंखें	...	४)

संस्मरण

१. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन	....	॥)
२. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला		॥)
३. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव	...	१॥)

प्राप्तिस्थान

…चस्पति पुस्तक भंडार, चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली।